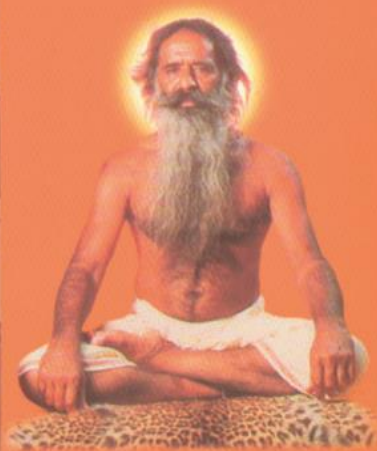


एकलव्य का अंगूठा



स्वामी अड़गड़ानन्दजी

॥ ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ॥

एकलव्य का अँगूठा

लेखक -

परमपूज्य श्री परमहंस महाराज का कृपा-प्रसाद

स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम

ग्राम-पत्रालय- शक्तेषगढ़, जिला-मिर्जापुर, उ०प्र०, भारत

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो स्टेट, गाला नं- 5, मोगरा लेन (रेलवे सब वे के पास)

अंधेरी (पूर्व), मुम्बई - 400069

अनन्तश्री विभूषित,
योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया-चित्रकूट

के परम पावन चरणों में

सादर समर्पित

अन्तःप्रेरणा

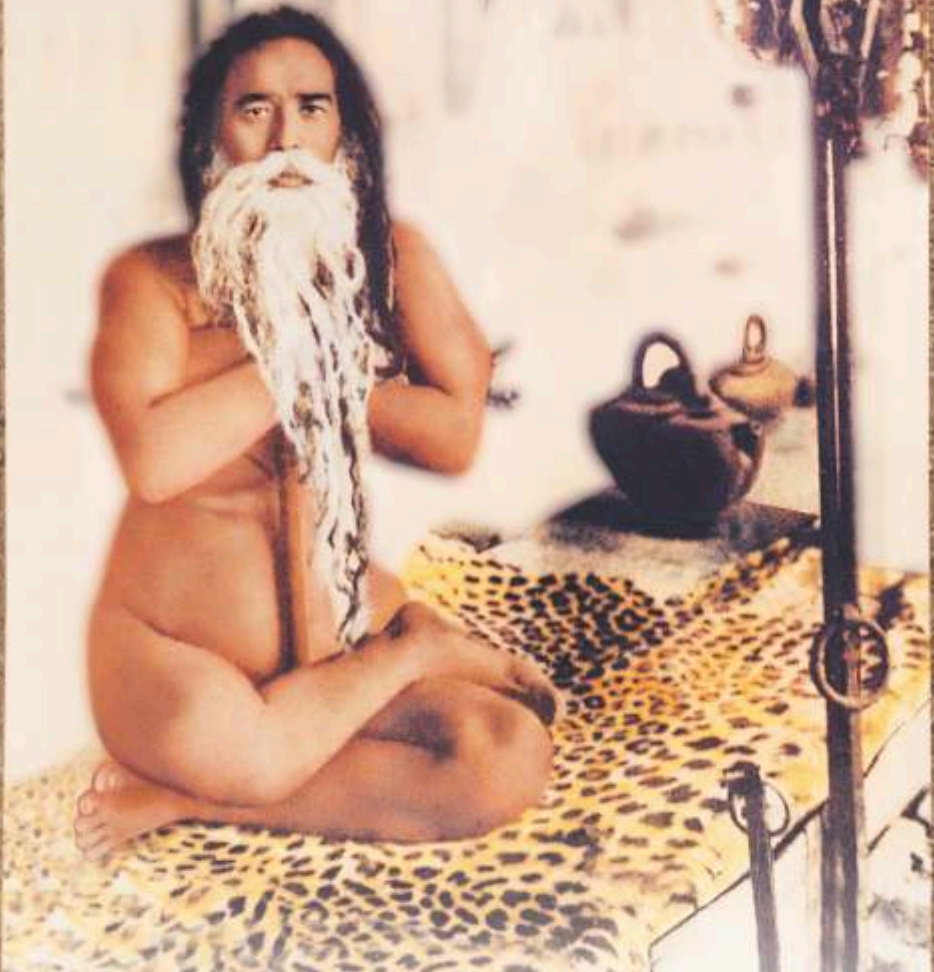
गुरु-वन्दना

॥ ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ॥

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी॥
सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी॥
अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वैष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी॥
चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी॥
हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी॥
यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
जय सद्गुरु.....भारी॥

॥ ॐ ॥

आत्मने मोक्षार्थं जगत् हिताय च

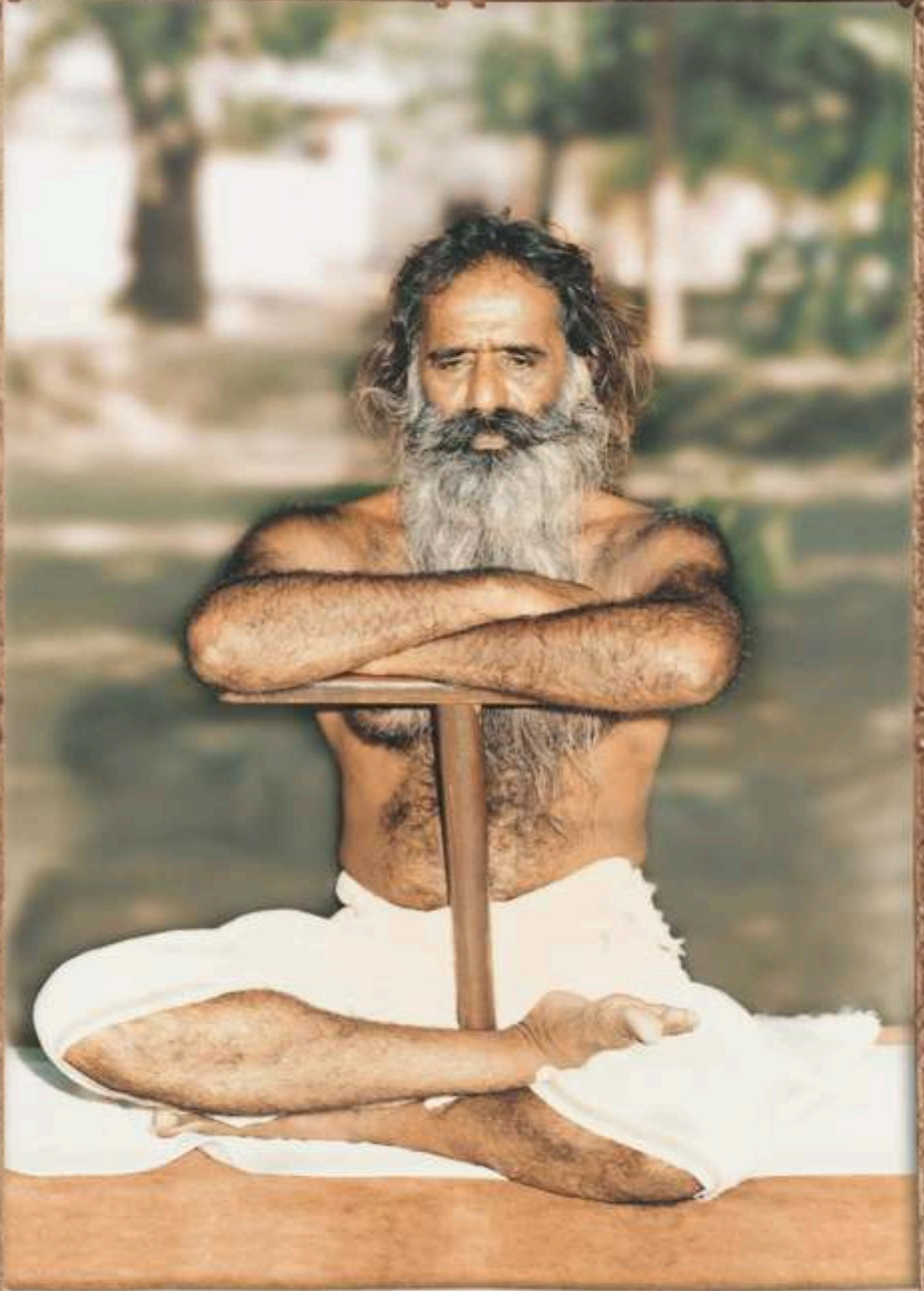


श्री श्री १००८ श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्म : शुभ सम्बत् विक्रम १९६९ (सन् १९११ ई०)

महाप्रयाण : ज्येष्ठ शुक्ल ७, वि०सं० २०२६, दिनांक २३/०५/१९६९ ई०

परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट



श्री स्वामी अङ्गुलानन्दजी महाराज
(परमहंस महाराज का कृपा-प्रसाद)

भूमिका

प्राप्तिवाले महापुरुषों की वाणी का अर्थ पारलौकिक होता है। कोई कितना ही ज्ञानी क्यों न हो परन्तु सांसारिक उपलब्धियों के बल पर उसे नहीं जान सकता क्योंकि चित के निरोध के साथ मिलने वाला ईश्वरीय सन्देश लिखने में नहीं आता। वह वाणी का विषय नहीं है, अनिर्वचनीय है। उसे जानने की विधि संकेत मात्र है जो सुनने में अटपटा लगता है, विरोधाभास प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए श्रीरामचरितमानस में है—

उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति।

पावहिं मोह विमूढ़, जे हरि विमुख न धर्म रति॥

अर्थात् राम का गुन गूढ़ है। पण्डित अर्थात् जो इसके रहस्य के ज्ञाता हैं, मुनि— जिसकी मनसहित इन्द्रियाँ मौन हो चुकी हैं — वे तो वैराग्य को प्राप्त होते हैं, परमात्मा की सत्यता को जान लेते हैं, संसार की असत्यता को त्याग देते हैं किन्तु जो विशेष रूप से मूढ़ हैं, हरि के पद से विमुख और धर्म में अनुरक्त नहीं हैं — ऐसे लोग उसी चरित्र से मोह अर्थात् अज्ञान को प्राप्त होते हैं। लेखन एक किन्तु पात्रों की पात्रता दो प्रकार की — एक प्रकाश की ओर, दूसरी अन्धकार की ओर, वे वैसा ही अर्थ ग्रहण करते हैं। इसीलिए गोस्वामी जी ने बताया कि ‘मानस’ समझने की क्षमता किनमें है?—

यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम की जापर होई॥

यह रहस्य वही जान पाते हैं जिनके ऊपर राम की प्रत्यक्ष कृपा होती है।

यह चरित्र जानहिं मुनि ग्यानी। जिन्ह रघुवीर चरन रति मानी॥

‘मानस’ क्या कहती है?—इसे तो केवल मुनि और ज्ञानी ही जानते हैं। जिनका मन उस अपौरुषेय परमतत्त्व में अनुरक्त है, जिनकी उन प्रभु में प्रीति

है वही इसे समझ पाते हैं। अतः गोष्ठियाँ करने से रामायण समझ में नहीं आती। कदाचित् कोई प्रश्न किसी भक्त के अन्तर्मन में उद्वेलित होता है तो किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष से उसका परामर्श कर लेना चाहिए। इस सन्दर्भ में सबका स्वागत है।

पूज्य गुरुदेव भगवान कहते थे कि अच्छे अधिकारी के यही लक्षण हैं कि उसके हृदय में प्रश्न उभरते रहें किन्तु प्रश्न वहीं पूछना चाहिए जहाँ उसका समाधान हुआ करता है। जंगल में जाकर कोई वायुयान का पासपोर्ट चाहे तो वहाँ नहीं मिलेगा। वहाँ तो वही घास-पात ही मिलेगा। अतः प्रश्नों के समाधान हेतु किंचित् आयास करें। वह है श्रद्धा और संतों की संगति—

जे श्रद्धा सम्बल रहित, नहिं सन्तन कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ॥

फिर वे सन्त महापुरुष ही हृदय से बताने लगेंगे और आप सन्तुष्ट भी हो जायेंगे।

॥ ॐ श्री सद्गुरु भगवान की जय ॥

— स्वामी अङ्गदानन्द

एकलव्य का अँगूठा

—स्वामी श्री अङ्गुदानन्द जी

स्व० सांसद श्रीमती फूलन देवी द्वारा नई दिल्ली के एक कक्ष में 'एकलव्य सेना' के गठन के अवसर पर सोमवार, दिनांक 6 फरवरी, 1995 ई० को महाराजश्री द्वारा उनकी जिज्ञासा पर दो शब्द।

शिक्षा-गुरु
और
सद्गुरु में अन्तर

शिक्षक लोक-जीवन की कला सिखाते हैं
जबकि
सद्गुरु जीवन में समृद्धि के साथ
परमश्रेय की जागृति
और अनामय पद की प्राप्ति
कराते हैं।

एकलव्य का अँगूठा

महामहिम राष्ट्रपति महोदय ने अभी-अभी आश्रम से प्रकाशित श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या 'यथार्थ गीता' के आडियो कैसेट का लोकार्पण किया है। उसी सन्दर्भ में पत्रकारों से मिलने का कार्यक्रम चल ही रहा था कि आपके आयोजकों में से कुछेक ने, जो हमारे आश्रम के भक्तों में हैं, निवेदन किया कि 'एकलव्य सेना' के उद्घाटन समारोह में भगवन् आप भी दो शब्द कहें।

अभी रास्ते में आपको उद्घोष सुनायी पड़ा- “अब अँगूठा नहीं देंगे!... अब अँगूठा नहीं देंगे!... अब अँगूठा नहीं देंगे!” एक ने शिकायत भी की, “महाराज जी! हम आप लोगों के पास कैसे आयें? हमारे पूर्वजों में एक आया भी तो गुरुजनों ने उसका अँगूठा ही ले लिया।”

आपका प्रश्न मर्माहत करने वाला है। आप सबका आक्रोश स्वाभाविक है। अधूरी जानकारी ही पूर्ण जानकारी के लिए प्रेरणा देती है। किसी कार्यक्रम के बीच इस प्रश्न के लिए यह अनुकूल अवसर तो नहीं है फिर भी आप सबका आग्रह देखते हुए प्रयास करूँगा।

आचार्य द्रोण ने तो अँगूठा ही लिया था, एक आचार्य ने तो कर्ण के प्राण ही ले लिये। एक ने राजकुमारी शर्मिष्ठा को दासी बना डाला। इन आचार्यों को क्या कहा जाय? इन आचार्यों ने ही स्मृतियों की रचना कर भारत को लगभग समाप्त ही कर दिया।

वस्तुतः सद्गुरु और आचार्य गुरुओं में अन्तर करना लोग भूल गये। यही आपकी शंका और संसार में व्याप्त अनर्थों का मूल कारण है। सामाजिक परिवेश से आक्रान्त आचार्य गुरु कुछ भी कर सकते हैं। आचार्य उसे कहते

हैं जो शिक्षा दे। शिक्षा में धनुर्वेद है, आयुर्वेद है, वर्णमाला की शिक्षा है। सृष्टि में मानव जीवन में उपयोगी जितनी भी कलाएँ हैं—वह सब शिक्षा के अन्तर्गत आती हैं।

पौराणिक आख्यानों में है कि प्रजापति कश्यप की दो रानियाँ थीं—दिति और अदिति। दिति से दानव और अदिति से देवताओं का जन्म हुआ। इन दोनों माताओं में सौतिया डाह के फलस्वरूप उनके पुत्रों में भी अनबन होने लगी। विवाद बचाने के लिए कश्यप ने इनके लिए भू-भाग को दो भागों में बाँट दिया, फिर भी दैत्यों और देवताओं में सौमनस्य नहीं हो सका।

उनके ईर्ष्या-द्वेष को प्रज्वलित करने में एक घटना ने विशेष योगदान दिया। देवताओं ने वृहस्पति को आचार्य पद पर अभिषिक्त कर दिया। शुक्राचार्य जी उस युग के मूर्धन्य विद्वान थे। उन्होंने इसे अपना तिरस्कार समझा अतएव उन्होंने असुरों का आचार्य होना स्वीकार कर लिया। बार-बार देवासुर संग्राम का होना इन आचार्य गुरुओं की प्रतिद्वन्द्विता का परिणाम था।

आचार्य वृहस्पति

देवगुरु वृहस्पति की बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म थी। वह बाहुबल की अपेक्षा बुद्धिबल और कूटनीति में अधिक विश्वास करते थे। साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। मदान्ध नहुष से देवराज इन्द्र की पत्नी शची की रक्षा उन्होंने बुद्धि-कौशल से ही की थी।

एक बार एक नरेश सौ यज्ञ करके इन्द्रपद प्राप्त कर ले गये। उनका नाम था महाराज नहुष। पहले तो वह बहुत धर्मात्मा थे किन्तु इन्द्रपद पर अभिषिक्त होते ही जब वरुण, अग्नि, काल, यम, वायु तथा चन्द्रादि देवताओं ने उन्हें नमन किया तब उन्हें अहंकार हो आया। वह सोचने लगे कि उनका प्रभाव इन सबसे बहुत अधिक है। उन्हें लगा कि इन्द्र अभी तक नहीं आया, वह कहाँ है? सूचना मिली कि वह तपस्या करने चला गया है।

नहुष ने कहा, “इन्द्र नहीं तो उसकी पत्नी ही सही! शची कहाँ है? उसे मेरी सेवा में उपस्थित करो।”

महारानी शची ने वृहस्पति से निवेदन किया, “आचार्य प्रवर! नहुष से मेरी रक्षा करें।” वृहस्पति ने विचार किया और कहा, “उससे कह दो कि विप्रों की पालकी में बैठकर एक महीने आप स्वर्ग का भ्रमण करें जिससे आपके ऐश्वर्य को लोग देखें, तत्पश्चात् उसी पालकी में बैठकर आप मेरे महल में आयें। मैं आपका वरण कर लूँगी।”

नहुष ने विप्रों की तलाश में अनुचरों को भेजा। स्वर्ग में तो देवता रहते हैं, वहाँ विप्र कहाँ! पृथ्वी के ही विप्र पकड़े गये, वह भी भारत से। अन्यत्र यह पाये नहीं जाते। अब कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक जहाँ भी वे मिले हों! उनमें थे— अगस्त्य, पुलह, पुलस्ति, अत्रि, अंगिरा, वशिष्ठ और विश्वामित्र। सप्तर्षि नहुष की पालकी ढोते रहे, उसे महीने भर स्वर्ग की सैर कराते रहे। जिस दिन महीना पूरा हुआ, पालकी का मुख शची देवी की महल की ओर घूमा। नहुष अधीर हो उठा। उसे पालकी ढोने वालों की चाल मन्द प्रतीत हुई। ‘सर्प—सर्प’ (शीघ्र—शीघ्र) कहते हुए उसने महर्षि अगस्त्य को पैरों से ठोकर मारा। ऋषि ने शाप दे दिया— “जाओ, सर्प ही हो जाओ।” अजगर की तरह लहराता नहुष आकाश से नीचे आने लगा। ऋषियों से उसने प्रार्थना की, मुक्ति का उपाय पूछा तो उन्होंने कहा— “जब कोई तुम्हें ब्राह्मण की महिमा बता देगा उस दिन तुम अजगर के इस अधम शरीर से मुक्ति पा जाओगे।”

नहुष ने जिज्ञासा की, “भगवन्! कौन बतायेगा मुझे ब्राह्मणों की महिमा?” उन महापुरुषों ने कहा, “इस समय सृष्टि में कोई नहीं है जो ब्राह्मणों की महिमा जानता हो। द्वापर में वनवासकाल में युधिष्ठिर तुम्हें ब्राह्मण की महिमा बतायेंगे तभी तुम इस अधम योनि से मुक्त होकर पुनः इन्द्रपद प्राप्त कर सकोगे।” सन्त दयालु होते हैं। यद्यपि नहुष ने एक महीने

तक उनसे पालकी दुलवायी फिर भी उन्हें कोई क्रोध नहीं था। उसके उद्धत आचरण पर उन्हें क्रोध आया भी तो पुनः मुक्ति का आशीर्वाद भी दिया। इस प्रकार शची की रक्षा के प्रकरण में वृहस्पति ने स्वयं हस्तक्षेप करना आवश्यक नहीं समझा बल्कि बुद्धि का प्रयोग कर नहुष को दण्ड दे दिया।

इसी प्रकार का एक दूसरा आख्यान है। महान् पराक्रमी दैत्य हिरण्याक्ष तपस्या करने लगा। देवताओं ने आचार्य वृहस्पति से निवेदन किया, “यह दुष्ट यदि सफल हो गया तो देवताओं का निर्वासन हो जायगा। इसकी तपस्या में विघ्न डालें।” वृहस्पति ने स्वयं कुछ करना उचित नहीं समझा। उन्होंने अपना पालतू शुक हिरण्याक्ष के पास भेज दिया। हिरण्याक्ष कहता ‘ब्रह्मणे नमः’ तो शुक उसी की नकल करते हुए ‘विष्णवे नमः’ कहने लगा। एक-दो दिन तो हिरण्याक्ष के ऊपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा; किन्तु क्रमशः एक-दो बार ‘ब्रह्मणे’ के स्थान पर ‘विष्णवे’ भी मुख से निकलने लगा। हिरण्याक्ष का ध्यान इधर गया तो उसने उठाया डंडा, “विष्णु के पिडू तोते!” तोता उड़ चला। हिरण्याक्ष की तपस्या खण्डित हो गयी। क्या बिगाड़ा था हिरण्याक्ष ने वृहस्पति का? एक कुटिल नीति से उसे परास्त करना वृहस्पति की कला थी। ऐसी विलक्षण प्रतिभा वाले वृहस्पति देवताओं के आचार्य थे। किन्तु शुक्राचार्य भी कम नहीं थे। उन्होंने अपने शिष्य की तपस्या पूर्ण करा ही ली।

आचार्य शुक्र

अब शुक्राचार्य जी के कृत्यों पर दृष्टि डालें। इन्होंने यहाँ तक आविष्कार किया कि अपने असुर शिष्यों के लिए संजीवनी विद्या प्राप्त कर ली। जितने असुरों का प्राणान्त होता, इस विद्या के प्रभाव से वे पुनर्जीवित हो जाते थे। उनके दो पुत्र प्रह्लाद के टकराव में समाप्त हो गये थे किन्तु उन्हें एक कन्या थी – देवयानी। उन दिनों महाराज वृषपर्वा असुर राजा थे। उनकी एकमात्र कन्या शर्मिष्ठा थी। राजकन्या वन-भ्रमण के लिए निकली। उसके

साथ दासियाँ तथा आचार्य कन्या देवयानी भी थी। उसने जलविहार के उपरान्त भूल से राजकुमारी के वस्त्र पहन लिये। इस पर राजकुमारी ने उसे बड़ी खरी-खोटी सुनायी। उसने कहा, “तू मेरे पिता की स्तुति करने वाले, उनसे नित्य भीख माँगने वाले और दान लेने वाले की बेटी है। तेरा इतना दुस्साहस कि मेरे राजसी वस्त्रों को पहने।” देवयानी ने कहा, “इनके पिता हमारे पिताजी के चरण छूते हैं। मैं आचार्य-कन्या हूँ, राजकन्या क्या है मेरे सामने?” अब बच्चों की शरारत! शर्मिष्ठा ने कहा, “इसे कुएँ में फेंक दो।” जंगल में एक कुआँ था। दासियों ने देवयानी को उस कूप में गिरा दिया। देवयानी कई दिनों तक उस कूप में पड़ी रही। उसे मृत्यु आसन्न प्रतीत हुई। अकस्मात् राजा ययाति आखेट करते उधर से घूमते निकले। कुएँ से प्राणरक्षा की आवाज आयी। राजा ने रस्सी डाली। जब वह लगभग ऊपर आ गयी तो राजा ने हाथ पकड़कर उसे कुएँ से निकलने में सहायता की। प्रकृतस्थ होने पर उसने कहा, “इस जंगल में मैं कहाँ जाऊँगी? आपने मेरी प्राणरक्षा की है इसलिए इस शरीर पर अब आपका अधिकार है। आपने मेरा हाथ पकड़ा है इसलिए मेरा वरण कर मुझे अपने साथ ले चलें।”

ययाति ने कहा, “अभी तो ‘बचाओ! बचाओ’ कह रही थी, अब बाहर आते ही व्याह करने लगी! कौन हो तुम?” उसने कहा, “मैं दैत्यगुरु शुक्राचार्य जी की कन्या हूँ।” राजा उनका अप्रतिम पराक्रम जानते थे। कहीं वे नाराज न हो जायँ, अतः वे बोले, “देखो, व्याह के लिए माता-पिता की सहमति आवश्यक होती है। पहले आप अपने पिताजी की अनुमति लें तत्पश्चात् जो उचित होगा हो जायगा।”

देवयानी ने विलाप सहित समस्त वृत्तान्त अपने पिताजी को कह सुनाया। अंततोगत्वा उसने अपना मंतव्य बताया कि शर्मिष्ठा से बदला लूँगी। इस राजा के साथ मेरा विवाह कर दीजिए और शर्मिष्ठा को दासी बनाकर मेरे साथ भेजिए। वह कहती थी कि तू भिखारी की कन्या है। आप भिखारी हैं या

गुरु? आचार्य? शुक्राचार्य बोले, “भिक्षु भी हूँ, आचार्य भी हूँ। दोनों बातें सही हैं। शर्मिष्ठा अबोध है, उसे दासी बनाने की हठ छोड़ दे।” किन्तु देवयानी मचल गयी। शुक्राचार्य जी क्षुब्ध हो गये, सन्तान के मोह में आ गये।

सम्राट से उन्होंने कहा, “राजन्! मैं तुम्हारे आचार्य पद का परित्याग कर तपस्या हेतु हिमालय जा रहा हूँ। देवयानी पर प्राणघातक प्रहार हुआ है। वह मुझे प्राणों से भी प्रिय है। उसके बिना मैं यहाँ नहीं रह सकूँगा। जिस शर्मिष्ठा ने ऐसा किया है, उसे देवयानी की दासी बना दो तभी मैं यहाँ रह सकता हूँ।” महाराज वृषपर्वा ने सोचा— जो असुर युद्ध में मारे जाते हैं उन्हें यह जीवन प्रदान करते हैं। यदि यह चले जायेंगे तो हम कम पड़ते जायेंगे। देवताओं से संग्राम अवश्यम्भावी है। मुझ समेत सभी असुरगण उनके अधिकार में आ जायेंगे। यदि परिवार का विनाश एक सदस्य के त्याग से रुकता हो तो उस एक सदस्य का परित्याग श्रेयतर है। गाँव का नाश समुपस्थित होने पर एक परिवार का त्याग उचित है तथा देश की रक्षा में एक गाँव का त्याग कर देना चाहिए। नीति यही कहती है। अस्तु, अपने हृदय को कठोर कर महाराज वृषपर्वा ने प्राणों के समान प्यारी अपनी इकलौती कन्या को देवयानी की दासी बनाकर भेज दिया। आचार्य ने एक सम्मानित सम्राट की मर्यादा ले ली। सन्तान-मोह, जीविका-मोह तथा यश-प्रतिष्ठा के लिए वह कुछ भी कर सकते हैं।

राजमहल में देवयानी चिन्ता में पड़ गई— यह राजकन्या है, रूपसी है; इसमें अनेकों गुण हैं। राजा की दृष्टि पड़ी तो इस पर अवश्य कृपालु होंगे। ऐसा कुछ करूँ कि इस पर राजा की दृष्टि ही न पड़े। वह बोली, “देख दासी! जंगल में जो महल है वहीं जाओ। महल की सफाई करो, झाड़ू लगाओ और वहीं रहो।” शिकार खेलते महाराज ययाति उधर से निकले। उन्होंने देखा, महल के ऊपर अतीव रूप-स्वरूपसम्पन्न देवी खड़ी है। राजा उसके समीप जाकर बोले, “देवि! आप कोई देवकन्या हैं, अप्सरा हैं या गंधर्व हैं? इस

बियावान जंगल में आप अकेली कैसे हैं?” शर्मिष्ठा ने बताया, “राजन्! मैं महाराज वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा हूँ। आपकी महारानी जी के साथ दासी बनकर आयी हूँ। इस महल में झाड़ू लगाने की सेवा मुझे मिली है।” राजा ने कहा, “आप और दासी! हमसे अनजाने में अपराध हुआ। मैंने पहले जाँच क्यों नहीं की?” तुरन्त हीरे की अँगूठी पहनाकर राजा ने उससे गन्धर्व विवाह कर लिया, उसे महारानी का सम्मान दिया। क्रमशः उससे तीन पुत्र हुए। देवयानी को भी दो पुत्र हुए।

एक दिन देवयानी ने महारानी-जैसी व्यवस्था में बच्चों के साथ खुशहाल शर्मिष्ठा को देखा। बच्चों की मुखाकृति देखते ही वह सारी बात समझ गयी। वह तैश में आ गयी। उसने सीधे जाकर अपने पिता शुक्राचार्य से शिकायत की, “इस राजा ने मेरी बड़ी बेइज्जती की। मैं जिसे दासी बनाकर जूतियों के तले रखना चाहती थी, इसने उसे मुकुट में सजा लिया। इसे आप दण्ड दें।” ययाति भी वहाँ आ गये। शुक्राचार्य ने पुत्री के मोह में कहा, “हूँ! तुम्हें अपनी जवानी का बड़ा नाश है। जाओ अतिवृद्ध हो जाओ।”

ययाति उठना चाहकर भी उठ न सके। किसी तरह सरक कर एक डण्डा पकड़ उठ खड़े हुए। मुस्कुराते हुए उन्होंने कहा, “बाबाजी! आपने तो अपनी कन्या को ही प्रकारान्तर से शाप दे डाला। अब यह बैठकर पंखा डुलाती रहे। वैधव्य भी आसन्न प्रतीत होता है।” देवयानी भी मचल पड़ी, “पिताजी! आपने यह कैसा शाप दे दिया। कोई हल्की-सी सजा देनी चाहिए थी। इन्हें पूर्ववत् ठीक कर दें।” शुक्राचार्य जी बोले, “ठीक तो मैं नहीं कर सकता। हाँ, एक उपाय है। इनका कोई पुत्र इन्हें अपनी जवानी देकर इनका बुढ़ापा ले सकता है।” देवयानी के लड़के वहीं घूम ही रहे थे। उनकी ननिहाल जो ठहरी! उन्होंने सुना तो बोले, “हम इनकी अवस्था में आना नहीं चाहते। इनकी आँखें कैसी लग रही हैं? चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ी हैं। ऐसे शरीर से हम घोड़े पर कैसे चढ़ेंगे? ऐसी बुढ़ौती आप अपने पास ही रखिये।”

देवयानी के पुत्रों यदु और तुर्वसु से निराश ययाति ने शर्मिष्ठा के पुत्र द्रुह्यु एवं अनुसु से उनकी युवावस्था लेने का प्रस्ताव किया, उन्होंने भी वृद्धावस्था के दोष गिनाकर अपनी युवावस्था के बदले उसे लेना अस्वीकार कर दिया। अन्ततः शर्मिष्ठा के तृतीय पुत्र पुरु ने कहा, “पिताजी! आपके आदेश का मैं पालन करूँगा। इस नश्वर शरीर को एक दिन नष्ट होना ही था। माता-पिता की सेवा में यह काम आया, अतः मेरे जैसा भाग्यवान संसार में कौन हो सकता है?” उसने तुरन्त अपनी जवानी का संकल्प कर दिया। ययाति की जरावस्था उसने अंगीकार कर ली और प्रसन्नता के साथ भजन में लग गया।

कुछ काल उपरान्त नहुष पुत्र महाराज ययाति को बड़ी ग्लानि हुई। उन्होंने देखा कि इन विषयों से तृप्ति ही नहीं होती। हमने अपने आज्ञाकारी पुत्र के साथ घोर अन्याय किया है। उन्होंने पुरु की युवावस्था उसे वापस कर अपनी वृद्धावस्था ले ली। देवयानी और शर्मिष्ठा सहित वे जंगल में तप करने चले गये। उतने समय में देवयानी और शर्मिष्ठा में स्नेहिल सौहार्द्र लौट आया, बचपन की अन्तरंगता जो थी। इस प्रकार संतान-मोह के वशीभूत ये आचार्य कुछ भी कर सकते हैं। जिस यजमान ने सदैव सम्मान दिया, उसकी मर्यादा ले सकते हैं। यजमान मोह में जितना व्यस्त है उतना ही यह भी हो सकते हैं। अँगूठा मर्यादा से बड़ा तो नहीं होता?

आचार्य द्रोण

द्वापर की घटना है। एक बार ऋषि भरद्वाज पुत्र द्रोण ने देखा कि उनके पुत्र अश्वत्थामा के मुख पर सफेद-सफेद कुछ लगाया गया है। अपनी पत्नी कृपी से उन्होंने पूछा, “यह क्या लगा रखा है?” उन्होंने कहा, “यह दूध के लिए हठ कर रहा था अतः चावल पीसकर पिलाया है। कुछ मुख में लगा रहने दिया है जिससे बच्चों में यह कह सके कि हमने दूध पीया है।” द्रोण

स्तब्ध रह गये। मर्माहत होकर उन्होंने कहा, “धिक्कार है ऐसे पिता को जो अपने पुत्र के लिए पाव भर दूध की व्यवस्था तक नहीं कर सकता! किन्तु तुम चिन्ता न करो। मैं अभी व्यवस्था करता हूँ। द्रुपद मेरा बाल-सखा है, वह अब पांचाल नरेश हो गया है। मैं उससे गाय ले आता हूँ।”

सहपाठी होने के जोश में द्रोण धड़ल्ले से पांचाल नरेश द्रुपद के पास पहुँचे। बड़े-बड़े राजा-महाराजा उसके अभिषेक में आये थे। द्रोण ने कहा, “मित्र! तुम्हें राजसिंहासन पर देख मुझे अपार हर्ष हुआ। मित्र! एक गाय मुझे दे दो।” पांचाल नरेश ने उनका तिरस्कार करते हुए कहा, “देखो, मित्रता और शत्रुता बराबर हैसियत वालों में होती है। कहाँ मैं मूर्धाभिषिक्त नरेश, कहाँ तू भिखारी! भिखारी और नरेश की मित्रता कभी सुनी है तूने?” द्रोण ने कहा, जब हम गुरुकुल में पढ़ते थे हमने परस्पर मित्रता का वचन दिया था।” द्रुपद ने कहा, “बचकानी हरकतें भूल जाओ द्रोण! तुम अब सयाने हो गये हो और मैं भी! हाँ, तुम ब्राह्मण भिक्षु बनकर माँगते तो मैं तुम्हें पचासों गायें दे देता किन्तु मित्रता के नाम पर तो एक भी गाय नहीं दूँगा।” द्रोण बहुत तिलमिलाये। अन्ततः दुःखी होकर हस्तिनापुर की ओर बढ़ गये।

खेल-खेल में पाण्डव-कौरव बच्चों की गेंद कुएँ में गिर गई थी। द्रोण ने तुरन्त सरकण्डे मँगाये, एक को दूसरे से बींधकर उन्होंने गेंद बाहर निकाल दी। उन्होंने बच्चों से कहा, “साधारण-सी गेंद की रक्षा नहीं कर सकते, इस राज्य की रक्षा कैसे करोगे?” बच्चों ने उनका परिचय पूछा। उन्होंने कहा, “इस घटना की चर्चा पितामह भीष्म से करना, वे मेरा परिचय जानते हैं।” बच्चों ने पितामह से कहा। वह भी उन्हीं गुरु के शिष्य थे जिनसे द्रोण ने यह कला अर्जित की थी। वह समझ गये, हो न हो कदाचित् द्रोण आये हों। उन्होंने द्रोण का स्वागत किया, गाय भेंट की। रहने के लिए राजप्रासाद, चढ़ने के लिए रथ अर्पित किया। बच्चों की उच्चशिक्षा के लिए उन्होंने द्रोण को आचार्य पद पर अभिषिक्त कर दिया। जीविका की पुष्कल व्यवस्था हो गयी।

द्रोण बड़ी गरीबी से गुजरे थे। राजकुमारों के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने पर मनोयोग से शिक्षा देने लगे। शिक्षा के समापन पर उन्होंने बच्चों की परीक्षा ली, जिसमें अर्जुन को संसार को सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर घोषित किया गया। समारोह-सम्पन्न होने पर कुछ छात्र आचार्य के साथ वन-भ्रमण के लिए निकल गये। उनके आगे-आगे एक कुत्ता भी जा रहा था। समीप ही निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य धनुर्वेद का अभ्यास कर रहा था, जिसे कभी आचार्य द्रोण ने निषाद संस्कृति का जानकर, कौरवों का हित देखते हुए धनुर्विद्या में शिष्य बनाने से इनकार कर दिया था। कुत्ता बहुत दिनों से स्नान न किये हुए तथा मलिन चीथड़ों से आवेष्टित उस अपरिचित श्यामल युवक को देख भूँकने लगा। अभ्यास में बाधक कुत्ते को एकलव्य ने इस कौशल से वाण मारा कि उसकी जिह्वा उलट कर तालु में चली गयी। वह खेचरी मुद्रा करने लगा। एकलव्य ने उल्टा-सीधा दो-चार वाण इस तरह मारा कि रक्त की एक बूँद नहीं निकली और भूँकना बन्द!

साँय-साँय करता वह कुत्ता अपने स्वामी के पास पहुँचा। युधिष्ठिर ने कहा, “गुरुदेव! यह कला तो आपने अर्जुन को नहीं सिखाई? यह धनुर्धर अर्जुन से श्रेष्ठ प्रतीत होता है।” आचार्य ने कहा, “चलो, देखते हैं कौन है?” एकलव्य ने द्रोण को देखा, सादर नमन किया। द्रोण ने पूछा, “वत्स! तुम कौन हो? यह कला तुम्हें किसने सिखायी?” एकलव्य ने अपना परिचय बताते हुए कहा कि इस कला का श्रेय आपको है। चकित द्रोण ने कहा, “किन्तु हमने तो तुम्हें कभी अभ्यास नहीं कराया?” एकलव्य ने द्रोण की मूर्ति की ओर इंगित कर कहा, “इन्हें प्रणाम करता हूँ और अभ्यास करता हूँ। पेड़ों पर चढ़कर देख लेता हूँ कि आप कैसे सिखाते हैं, वैसे ही मैं अभ्यास किया करता हूँ।” निषाद संस्कृति को हस्तिनापुर का विरोधी तथा अर्जुन से भी श्रेष्ठ धनुर्धर होने को अपनी गरिमा तथा जीविका के लिए खतरा भाँपकर द्रोण बोले, “वत्स! गुरु-दक्षिणा नहीं दोगे?” एकलव्य ने सोल्लास कहा,

“गुरुदेव! आप आदेश तो करें!” द्रोण ने कहा, “अपने दाहिने हाथ का अँगूठा दे दो!”

आधुनिक शिष्य होते तो कहते, “मूर्ति ने पढ़ाया है, मूर्ति माँगेगी तो दंगे।” किन्तु उस गुरुभक्त एकलव्य ने अँगूठा काटकर आचार्य द्रोण को समर्पित कर दिया। यद्यपि द्रोण ने दूसरी उँगलियों से उसे वाण चलाने का निर्देश दिया किन्तु वह निपुणता कहाँ से आती? निःसन्देह अपनी प्रतिष्ठा खतरे में देख महान भूल हुई। अर्जुन तो सर्वोपरि रहता ही। वह द्रोण की शिक्षा तक ही सीमित नहीं था। भगवान् शंकर से उसने पाशुपत अस्त्र प्राप्त किया था, जो न द्रोण के पास था, न परशुराम के पास। वह देवलोक गया था जहाँ देवताओं से शस्त्रास्त्रों की शिक्षा उसने ली थी। अर्जुन के लिए तो द्रोण का आशीर्वाद ही पर्याप्त था, वह सदैव सर्वश्रेष्ठ रहता किन्तु जीविका की घबराहट में उन्होंने ऐसा माँग लिया। यह उनकी विवशता थी, परिस्थितिजन्य निर्णय था न कि जातिवाद! जातिवाद उस जमाने में था ही नहीं। सम्राट होते थे; शेष उनके प्रजाजन और प्रजाजनों में करोड़ों व्यवसाय थे। जाति-पाँत जैसी कोई बात नहीं थी।

आचार्य परशुराम

कर्ण भी आचार्य द्रोण से शिक्षा लेने आया था। उसे यहाँ से उत्तर मिला, “मैं क्षत्रिय राजकुमारों को ही पढ़ाता हूँ।” कर्ण ने कौरव-पाण्डवों से भिन्न एक युवक को इंगित कर पूछा, “गुरुवर! यह युवक कौन है?” उन्होंने बताया, “मेरा पुत्र अश्वत्थामा!” कर्ण ने कहा, “ओह! यह न तो क्षत्रिय है, न राजकुमार! प्रणाम गुरुदेव!” द्रोण अभी इस होनहार बालक के लिए विचार ही कर रहे थे कि वह निकल गया उनके भी गुरु परशुराम के पास! उसने सोचा, उन गुरुदेव में यह कमी थी कि क्षत्रिय राजकुमार ही पढ़ाते हैं, आचार्य परम्परा के बच्चों को ही पढ़ाते हैं क्योंकि काशिराज की जिन कन्याओं का

अपहरण उनके शिष्य भीष्म ने किया था उनमें से एक अम्बा शाल्व नरेश को अपना पति मान बैठी थी। भीष्म द्वारा भेजने पर शाल्व नरेश ने उसे अंगीकार नहीं किया। इस दुर्दशा का कारण भीष्म को मानकर उसने भीष्म से ही परिणय का प्रस्ताव रखा किन्तु प्रतिज्ञाबद्ध भीष्म को विवाह के लिए प्रस्तुत न देख उसने उनके गुरु परशुराम जी से ऐसा कराने का अनुरोध किया। परशुराम जी ने भीष्म को अम्बा से विवाह कर लेने को कहा, जिसे अस्वीकार करने पर उन्होंने भीष्म से युद्ध किया और युद्ध में पराजित होने पर उन्होंने एक व्रत ले लिया कि अब किसी क्षत्रिय को युद्धकला की शिक्षा नहीं दूँगा। वे अपनी प्रतिज्ञा के समक्ष गुरु के आदेश की परवाह भी नहीं करते।

कर्ण ने इन आचार्य से शिक्षा लेने का निश्चय कर लिया। छः महीने रुककर उसने चोटी का घेरा बढ़ा लिया। पुराने जमाने में आचार्य परम्परा के लोग गाय के खुर की तरह चोटी रखते थे। कर्ण ने यज्ञोपवीत पहना, वंशावली रट ली और परशुरामजी के पास पहुँच गया। उन्होंने पूछा, “वत्स कौन हो?” कर्ण ने कहा, “ब्राह्मण!” “कौन ब्राह्मण?” कर्ण ने शाखा-प्रशाखा, गोत्र, प्रवर रटा-रटाया सब कुछ बता दिया। प्रवेश मिल गया। गुरु जी पढ़ाते एक फीट, वह पढ़ ले जाता एक मीटर क्योंकि युद्ध-कौशल उसके संस्कार में था, रक्त में था, वह देवपुत्र जो था। एक दिन उन्होंने अन्तिम अस्त्र ब्रह्मास्त्र भी कर्ण को प्रदान कर दिया। कर्ण ने निवेदन किया, “प्रभो! गुरु-दक्षिणा के लिए आदेश करें।” परशुराम ने कहा, “कर्ण! तुम्हारे जैसा शिष्य भाग्यवान गुरुओं को प्राप्त होता है। दीर्घकाल से मैं इस तलाश में था कि कोई योग्य शिष्य मिले। भीष्म योग्य थे किन्तु तू उनसे भी बढ़-चढ़कर है। मेरी दी हुई विद्या का सदुपयोग करना, यही सच्ची गुरु-दक्षिणा होगी।”

गुरुदेव थककर लेट गये। कर्ण ने अपने जंघे पर उनका सिर रख लिया। तभी अलर्क नामक वज्रकीट जमीन से निकलकर कर्ण की जाँघ काटने लगा। गुरुदेव के विश्राम में व्यवधान न पड़े, सोचता हुआ कर्ण उसे सहन

करता रहा। जाँघ में छेद करने के उपरान्त उस कीट ने गुरुजी की कनपटी में पंजा मारा, वे झझककर बैठ गये। रक्त बहने का कारण पूछने पर कर्ण ने कहा, “कोई कीटाणु काट रहा था।” गुरुजी ने पूछा, “तुमने पाँव हटाया क्यों नहीं?” कर्ण ने कहा, “गुरुदेव! आपकी निद्रा भंग हो जाती। आपकी सेवा से बड़ी जाँघ तो नहीं है। कीड़े-मकोड़े तो काटा ही करते हैं।” “कौन-सा वर्ण बताया था तूने?” कर्ण ने कहा, “ब्राह्मण!” परशुरामजी संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने कहा, “सच बोल! कौन है तू? कष्ट सहन करने की यह क्षमता ब्राह्मणों में नहीं होती।” कर्ण ने बताया, “मैं सूतपुत्र हूँ।” उन्होंने कहा, “सूतों में भी यह क्षमता नहीं होती। तुम क्षत्रिय हो। तुमने छल से मुझसे शिक्षा ले ली। जाओ! जब तुम युद्ध में घिर जाओगे, मेरी दी हुई शिक्षा तुम्हें विस्मृत हो जायगी।” ऐसा ही हुआ। जब अर्जुन से मुकाबला हुआ, प्राणों पर संकट आया, कर्ण ने बहुत स्मरण किया, विद्या विस्मृत हो गयी। कर्ण मारा गया। द्रोण ने तो अँगूठा ही लिया था किन्तु परशुरामजी ने तो प्राण ही ले लिये। वह भी ऐसे शिष्य का जिसके लिए गुरु फूले नहीं समा रहे थे कि ऐसा शिष्य तो भाग्यवान् गुरुओं को प्राप्त होता है। उसी शिष्य को मृत्यु का आशीर्वाद दे डाला जबकि कर्ण इस तथ्य से अवगत नहीं था कि वह क्षत्रिय है।

परशुराम जी क्षत्रिय जाति के विरोधी रहे हों, ऐसी भी कोई बात नहीं है। वे क्षत्रियों के वैरी कदापि नहीं थे। वहीं जनक थे, दशरथ जी थे—उनसे छोटा-सा भी विवाद कभी नहीं हुआ। शस्त्रधारियों का उच्छृंखल होना स्वाभाविक है। ऐसे उद्दण्ड, मदान्ध अराजक तत्त्वों का ही उन्होंने उन्मूलन किया था। रावण को भी वश करने में समर्थ हैहयवंशीय सहस्रार्जुन को उन्होंने पराभूत किया था। वे रावण को भी मार सकते थे किन्तु नियति का जो विधान था उसे उन्होंने वैसा ही होने में कल्याण समझा।

घटना कुछ इस प्रकार है। एक समय महापराक्रमी रावण दल-बल सहित शिवार्चन हेतु अमरकण्ठक क्षेत्र में आया। सैनिकों ने पूजन के लिए

पुष्पों का पहाड़-सा लगा दिया। रावण ने मृत्तिका से ही शिवलिंग बनाया और नर्मदा तट पर आराधना में तल्लीन हो गया। कुछ ही दूर पर हैहयवंशीय सम्राट सहस्रार्जुन अपनी रानियों के साथ जलक्रीड़ा कर रहे थे। विनोद में ही उन्होंने अपनी भुजाओं से नर्मदा का प्रवाह अवरुद्ध कर दिया। जलस्तर उठने लगा। रावण के समीप पूजा के फूल बह चले। रावण के सेनापति प्रहस्त ने जाकर देखा कि मामला क्या है! उसने तुरन्त आक्रमण कर दिया। सहस्रार्जुन ने उसका आक्रमण विफल कर उसे पलायन के लिए विवश कर दिया।

अपने चारो ओर जल-प्रवाह देख रावण स्वयं आया। वह सहस्रार्जुन से मल्लयुद्ध करने लगा। सहस्रार्जुन ने रावण को विवश कर बन्दी बना लिया, रावण की सेना को मार-पीटकर भगा दिया। महर्षि पुलस्त्य के संज्ञान में यह घटना आयी। उन्होंने अपने पौत्र को मुक्त कराया। कालान्तर में यही सहस्रार्जुन तथा उसकी संतानें उत्पाती हो गये। महर्षि जमदग्नि की गाय के बछड़े को मार दिया, उनकी गाय ले ली। प्रतिरोध करने पर उन्होंने महर्षि की हत्या भी कर दी। उनकी पत्नी रेणुका ने अपने पुत्र परशुराम से सब कुछ कह सुनाया। परशुराम जी ने उन सब लड़कों को मार गिराया। रावण को भी पराभूत करने वाले सहस्रार्जुन की भुजाओं का परशुराम ने उच्छेद कर डाला। पराक्रम की कमी नहीं थी इनमें! लेकिन यह महापुरुष जानते थे कि किसका वध किस काल में, किसके द्वारा संभव है। इसलिए वे रावण का वध करनेवाला धनुष कोदंड कंधे पर लटका कर घूम रहे थे और उपयुक्त पात्र की प्रतीक्षा में थे। ज्योंही अवसर आया, वह धनुष एक क्षत्रिय को ही समर्पित कर दिया।

भीष्म के हाथों पराजित होने पर भी बहुत स्नेह से वे भीष्म का स्मरण करते थे। तभी तो उन्होंने कर्ण से कहा, “भीष्म मेरा योग्य शिष्य है किन्तु तुम उससे भी इक्कीस हो।” यदि भीष्म से ईर्ष्या होती तो कह देते, “कर्ण! भीष्म को पराजित करके आओ, यही गुरु-दक्षिणा होगी।” किन्तु ऐसा कुछ नहीं था। कर्ण को जो शाप मिला वह भी होनी थी। महाभारत, कर्णपर्व के

सत्तासीवें अध्याय में है कि इन्द्र के संशय पर ब्रह्माजी ने बताया था, “कर्णश्च दानवः पक्ष अतः कार्यः पराजयः”- कर्ण दानव पक्ष का पुरुष है अतः उसकी पराजय करनी चाहिए।” परशुराम जी इस रहस्य से परिचित थे। धर्म पर दृष्टि रखने वाले महापुरुषों से होनी व्यक्त होती रहती है। इस शाप से भी कर्ण के मन में उनके प्रति कभी अश्रद्धा नहीं हुई। युद्ध में “मैं परशुराम का शिष्य!”-ऐसे उद्गार उनके मुख से निकलते ही रहते थे।

कर्ण ने आचार्य द्रोण से जिज्ञासा की, “आपने एकलव्य से उसका अँगूठा क्यों ले लिया?” आचार्य ने समाधान किया, “उस एकलव्य से धनुष के अंकुर हस्तिनापुर की ओर आते मुझे दिखायी दे रहे थे क्योंकि उसका पिता जरासंध का सेनापति था।” आचार्य (शिक्षक) लोग बड़ी दूर की सोचते थे किन्तु शाश्वत सत्य धर्म के विषय में सोचने की क्षमता इन आचार्य गुरुओं में कभी नहीं थी। ऐसी क्षमता केवल सद्गुरुओं में होती है। वही सद्धर्म के अन्वेषी हैं।

स्मृतियाँ

इन्हीं आचार्य गुरुओं के नाम से प्रचलित स्मृतियाँ हैं जो धर्मशास्त्र के रूप में प्रचलित हैं। जो व्यामोह इन आचार्यों के चरित्र में है- पुत्र-मोह, जीविका-मोह, व्यक्तिगत मान-प्रतिष्ठा; वही सब स्मृतियों में कूट-कूट कर भरा है। उसमें भी इन आचार्यों के लिए आरक्षण है- मंत्री-पद का आरक्षण, न्याय-पद का आरक्षण, शिक्षक-पद का आरक्षण, सुख-सुविधाओं का आरक्षण! पुत्रमोह में जितना विकल अंधा धृतराष्ट्र है (कैसे पाण्डव मर जायँ! कैसे मेरा प्रिय दुर्योधन सम्राट बन जाय! सम्राट हो गया तो और बड़ा हिस्सा पा जाय) उतना ही ये आचार्य विकल थे।

एक दिन आचार्य द्रोण को युद्ध में सुनायी पड़ा, “अश्वत्थामा हतो....” जहाँ इतना सुनना था अधीर हो उठे, मुट्टियों का कसाव ढीला पड़ गया, धनुष हाथ से गिर गया, किंकर्तव्यविमूढ़ होकर बैठ गये। इतने में गला

कट गया। पुत्र-मोह में जितना धृतराष्ट्र विकल है उतना ही द्रोण भी विकल हैं किन्तु सद्गुरुओं के पास न पुत्र-मोह होता है न जीविका मोह और न सम्मान की लिप्सा। सृष्टि में ऐसा कुछ है ही नहीं जिसके द्वारा सत्पुरुषों को सम्मान मिल सके। पूज्य महाराज जी कहा करते थे, “पूरा संसार तुम्हें साधु कहे, संत-शिरोमणि कहे, तुम्हें रोने को आँसू नहीं मिलेगा। आत्मा तुम्हें साधु कहे तो तुम साधु हो; दुनिया कहे चाहे न कहे। भाड़ में जाय दुनिया! भगवान कहे सन्त तो सन्त है अन्यथा कदापि नहीं।” सृष्टि में ऐसा कोई प्रमाण-पत्र नहीं है जो उन्हें सम्मानित कर सके।

महापुरुष सभी रीति-रिवाजों से मुक्त होते हैं जबकि इन रीति-रिवाजों का ही संकलन स्मृति-ग्रन्थों में पाया जाता है। भगवान् बुद्ध के पश्चात् ईसा के दो-तीन सौ वर्ष पहले से इन स्मृतियों को लिखना आरंभ किया गया और फिर दो-तीन सौ साल बाद तक लिखते चले गये। यह मनुस्मृति, पाराशर स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति – इनमें से कोई भी उन महापुरुषों की लिखी नहीं है जिनके नाम से इन्हें चलाया गया है। उदाहरण के लिए मनुस्मृति महाराज मनु की रचित नहीं है क्योंकि **‘स्वायंभुव मनु अरु शतरूपा। जिनते भई नर सृष्टि अनूपा॥’** स्वायंभुव अर्थात् स्वयं कर्ता-धर्ता महाराज मनु और माता सत्य स्वरूपा जिनसे अनुपम सृष्टि की उत्पत्ति हुई। जिसकी कोई तुलना नहीं, जिसकी कोई उपमा नहीं वहाँ कोई अस्पृश्य कैसे हो गया? क्या कोई पिता अपने चार पुत्रों में से एक को अति पावन, दूसरे को अति निकृष्ट कहकर सम्बोधित कर सकता है कि छाया पड़ जाने पर स्नान करो? अनुपम में घृणित कैसा? मनु के अनन्तर चौदह पीढ़ियों तक, चौदह मन्वन्तरों तक यह क्रम चलता रहा। आबादी जब थोड़ी घनी हो गयी तब प्रजापति युग आया। प्रजापति मरीचि, प्रजापति कश्यप, प्रजापति दक्ष इत्यादि का इतिहास लोकविश्रुत है। प्रजापति कश्यप की कई रानियाँ थीं। उनमें से दो रानियों तथा उनके पुत्रों में स्पर्धा एवं ईर्ष्याभाव देख प्रजापति कश्यप ने भूभाग दो हिस्सों

में बाँट दिया। दिति के लड़के दानव तथा अदिति के देवता पृथक्-पृथक् रहने लगे। परस्पर वर्चस्व के संघर्ष होते रहे। देवगुरु वृहस्पति और दैत्यगुरु शुक्राचार्य पीठ ठोंक-ठोंक कर उन्हें लड़ाते ही रह गये। यह आचार्यों की लगायी हुई लड़ाई है अन्यथा आरम्भ में देवता और दानवों में मधुर सम्बन्ध भी थे। दानवराज पुलोमा की कन्या शची से देवराज इन्द्र का परिणय हुआ था। देवगुरु की कन्या जयन्ती शुक्राचार्य की अर्द्धांगिनी थी। हीनता और उच्चता का भाव इन आचार्यों की देन है जिनकी पहुँच सामाजिक शिक्षा तक है। मनुस्मृति के चौथे अध्याय में नट, दर्जी, केवट, सुनार, धोबी, धरिकार, चमार, नाई इत्यादि जिन जातियों का उल्लेख है, मन्वन्तर काल में उनका विभाजन ही नहीं था। उस काल के शब्दकोष में ये शब्द ही नहीं थे। महाभारतकाल तक भैंस को जंगली जानवर के रूप में जाना जाता था। भीम के मारे हुए जंगली जानवरों में भैंसों का उल्लेख है किन्तु मनुस्मृति के पाँचवें अध्याय में है कि जंगली जानवरों में भैंस का दूध लिया जा सकता है। प्रतीत होता है कि दुधारु पशु के रूप में उसकी धर-पकड़ शुरू हो गयी थी। अस्तु, इस स्मृति को मानव के आदि पूर्वज मनु की रचना कैसे स्वीकार की जाय?

प्राचीन आर्ष पुरुषों के नाम से प्रचारित स्मृतियों में आचार्य प्रवरों का व्यामोह ज्यों-का-त्यों सुरक्षित है— जीविका का आरक्षण, सन्तान का मोह, अपनी श्रेष्ठता का संरक्षण इत्यादि; किन्तु भारत स्वतंत्र होते ही वंशानुगत आरक्षण समाप्त हो गया कि शिक्षक का लड़का शिक्षक, वैद्य का लड़का वैद्य होगा। स्मृतियों के अनुसार जिन्हें पेड़ों तले रहना था, ठीकरों में खाना था, उन्हें आरक्षण मिल गया। वाइस-चांसलरों से भी ऊपर चांसलर वे होने लगे। आचार्य परम्परा वालों के लिए अलग से कोई कोटा ही न रहा तब से स्मृतियों की यह परम्परा टूट-सी गयी है। यह धर्म नहीं है। यह सामाजिक व्यवस्था का सूत्र है। स्मृतियाँ स्टेट पीरियड में समाज को चलाने की आचार संहिता थीं, न कि धर्मशास्त्र।

हमने सुना है कि कई विद्यालयों में छात्र समय से विद्यालय जाते हैं किन्तु वहाँ पढ़ाई नहीं होती। कुछेक अध्यापक बाहर चाय-पान की दुकानों पर घूमते रहेंगे। वे धीरे से कह देंगे, “हमसे ट्यूशन पढ़ लो, घर पर आओ।” यह भी चल रहा है। क्या है यह? अँगूठा लेना तो क्षम्य है किन्तु जिस बालक को आपके संरक्षण में सौंपा गया उसका जीवन ही चौपट किये दे रहे हो? आचार्यों की यह परम्परा आज तक वैसी ही है। कहीं कोई अन्तर नहीं है। यह कुछ भी ले सकते हैं। यह जातिवाद नहीं है और आज भी आचार्यों के उक्त कृत्य को जातिवाद की संज्ञा कदापि नहीं दी जा सकती।

सद्गुरु (धर्मगुरु)

महापुरुषों की दृष्टि में ऊँच-नीच, छूत-अछूत का प्रश्न कभी था ही नहीं। सृष्टि का कोई भी कीर्तिमान उन्हें आकर्षित नहीं करता। उनकी कीर्ति किसी भटकी हुई आत्मा को सत्पथ पर, सन्मार्ग पर लगा देने में ही हुआ करती है। उनके लिए जात-पाँत होता ही नहीं। आप किस धंधे में प्रवीण हैं, किसमें आपकी गति स्वल्प है इससे उन्हें कुछ भी लेना-देना नहीं है। उनकी दृष्टि व्यक्ति की मनःस्थिति पर होती है।

भगवान बुद्ध भिक्षाटन पर जा रहे थे। रास्ते में एक भंगी सिर पर मैला की टोकरी लेकर जा रहा था। मैला उसके कंधों पर चू रहा था। उसने भगवान को देखा तो झाड़ियों की ओर घूम गया। बुद्ध भी उसके पीछे हो लिये। वह तेज चलने लगा तब भी उन्हें अपनी ओर आता देख वह दौड़ने लगा। बुद्ध पीछे लगे रहे। अंततः नदी के किनारे की झाड़ियों में मैले की टोकरी फेंक वह नदी में कूद गया। बुद्ध भी नदी में उतर गये। उस भंगी को तैरना नहीं आता था। एक सीमा तक जाकर वह जल में खड़ा हो गया— “भगवन्! मुझे स्पर्श न करें। मैं अछूत हूँ, नीच हूँ, अभागा हूँ, मेरा स्पर्श करने से आप अपवित्र हो जायेंगे।” बुद्ध बोले, “वत्स! मैं अपवित्र नहीं होऊँगा। तुम्हें तो

कोई आपत्ति नहीं है।” निरुपाय होकर उसने कहा, “भगवन्! हमें कौन आपत्ति हो सकती है?”

तथागत ने शिष्यों से कहा, “इस पकड़ो, नहलाओ, भिक्षु बनाओ।” आनन्द इत्यादि वरिष्ठ शिष्य साथ ही थे। उन्होंने गुरुदेव की आज्ञा का पालन किया। उसे नहलाया, नूतन चीवर पहनाया, भिक्षापात्र दिया। उन महामानव बुद्ध ने उससे कहा, “आज से तुम बौद्ध भिक्षु हो, सत्य के अन्वेषी हो।”

अनेक राज्यों में यह समाचार बिजली की तरह कौंध गया कि गौतम बुद्ध ने एक नीच भंगी को अपना शिष्य बना लिया। कोशलराज प्रसेनजित से लोगों ने शिकायत की, “अनर्थ हो गया! अछूत को धर्म का उपदेश दिया।” राजा ने कहा, “मैं स्वयं इसकी जाँच करूँगा।” तिथि नियत हो गयी— तीन महीने पश्चात् पूर्णमासी को राजा स्वयं पता लगायेंगे। इधर भगवान बुद्ध ने शिष्यों की सभा बुलाई। प्रश्न रखा गया कि इस समस्या का क्या समाधान है? बुद्ध के शिष्यों में वरिष्ठ सारिपुत्र ने कहा, “भगवन्! हमें उत्तर देने की क्या आवश्यकता! इसका उत्तर तो यह स्वयं दे लेगा।” बुद्ध ने कहा, “यह कैसे संभव है?” सारिपुत्र ने कहा, “इसे इतना प्रशिक्षण दिया जाय जिससे यह राजा के प्रश्नों का स्वयं समाधान कर दे।” भगवान बुद्ध ने कहा, “सारिपुत्र! यह दायित्व मैं तुम्हें सौंपता हूँ।” सारिपुत्र उन्हें शिक्षा देने लगे।

तीन मास के उपरान्त राजा का आगमन हुआ। आश्रम के मुख्य द्वार पर ही अश्वत्थ वृक्ष के नीचे चबूतरे पर एक भिक्षु बैठे हुए थे। सौ-पचास गृहस्थ तथा कुछ भिक्षु शांत भाव से कथा श्रवण कर रहे थे। अत्यन्त संयत वाणी में वह भिक्षु तथ्यपूर्ण निर्देशन दे रहे थे। प्रसेनजित खड़े हो गये। पाँच मिनट उन्होंने भी सुना। उन्हें विचार आया कि पहले तथागत को प्रणाम कर लूँ, पुनः कथा-श्रवण करूँ। कथा तो ओजपूर्ण एवं उपयोगी है। उन्होंने बुद्ध को प्रणिपात निवेदन कर कहा, “भगवन्! यह नये भिक्षु कौन हैं? इनको

हमने पहले कभी देखा नहीं। इनके चेहरे पर बड़ी सौम्यता है, वाणी में ओज है, निर्णय तथ्यपूर्ण है।” भगवान बुद्ध ने कहा, “राजन्! जिनकी जाँच करने आप आये हैं, यह वही भिक्षु है।” प्रसेनजित ने कहा, “भगवन्! भंगी की ऐसी स्थिति! आश्चर्य है!” गौतम ने समझाया, “राजन्! समाज में जीविका के भिन्न-भिन्न साधन होते हैं। वस्तुतः वह न भंगी था, न अस्पृश्य न अधम! वह मात्र एक मानव था जो उस परिस्थिति से गुजर रहा था। सत्पुरुषों का सान्निध्य मिला। अब वह वही है जो सारिपुत्र हैं।” बुद्ध के अच्छे शिष्यों में उसकी गणना होने लगी। गरीब आदमी सेवा में प्राणपण से लगता भी तो है। महापुरुषों में यह भावना नहीं होती कि शूद्र को नहीं पढ़ायेंगे या क्षत्रिय को नहीं पढ़ायेंगे। कोई सामने से निकल भर जाय, जिस स्तर का है उसी स्तर से उसका मार्गदर्शन होने लगेगा। महात्मा समदर्शी तो होते ही हैं किन्तु जो जिस स्तर का है उसी स्तर से उसका उत्कर्ष होने लगता है, इसलिए वे समवर्ती भी हैं—‘अमित रूप प्रकटे तेहिं काला। जथा जोग मिले सबहिं कृपाला।।’

महाभिनिष्क्रमण से बोधि प्राप्ति के पश्चात् भी गौतम बुद्ध जब घर नहीं लौटे, उनके पिता शुद्धोदन ने मंत्रियों द्वारा संदेश भेजा— आपके लिए तो संसार के सभी प्राणी अपने हैं तो क्या हम पराये हो गये? एक बार आप हमारे दरवाजे पर भी भिक्षा कर लें। बुद्ध ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया और कहा, “राजन्! एक दिन हम अवश्य भिक्षा के लिए आपके यहाँ आयेंगे।” कुछ महीनों पश्चात् बुद्ध ने कहा, “भिक्षुओ! यह निमन्त्रण बहुत दिनों से टलता आ रहा है। चलें, आज इसी को देख लिया जाय।” महलों तक सूचना हो गयी। राजसेवकों ने संदेशों का ताँता लगा दिया, “अब कुमार वहाँ आ गये..... उस बगीचे तक आ गये, उस गाँव के समीप हैं।” महल को निपुण कारीगरों द्वारा सजाया गया। कुमारी कन्यायें महल के समक्ष मंगलकलश लिये खड़ी थीं। रंग-बिरंगे वन्दनवारों से सम्पूर्ण नगर ही सुशोभित था। मुख्य अधिकारियों समेत राजा मुख्य द्वार पर स्वागतार्थ उपस्थित थे।

मुख्य द्वार अभी कुछ दूर ही था कि बुद्ध ने कहा, “क्यों भिक्षुओ! भिक्षा का समय तो हो गया।” भिक्षुओं ने समर्थन किया, “हाँ भगवन्! हो तो गया।” बुद्ध ने कहा, “तो भिक्षा कर लिया जाय। महाराज के यहाँ कोई आज का निमन्त्रण तो है नहीं, कभी हो जायगा।” संकेत समझते ही सभी भिक्षु गलियों में तितर-बितर हो गये। बुद्ध भी एक झोपड़ी की ओर घूम पड़े। बुद्ध ने कहा, “भिक्षां देहि!” एक वृद्धा चमारिन झोपड़ी से निकली, बोली, “राजकुमार आप! मेरे अहोभाग्य! बचपन में आपकी शय्या के समीप सेवाकार्य में मैं ही रहती थी। मेरा यह नाम है। यह चमार का घर है। आपको यहाँ नहीं आना चाहिए था।” बुद्ध ने कहा, “माते! मैंने जाति-पाँत तो पूछी नहीं, केवल भिक्षा माँगी है। क्या तुम एक भिक्षु को भिक्षा नहीं दोगी?”

बुढ़िया की आँखों में अश्रु छलक आये। उतने प्रेम से जीवन में उससे कोई बोला भी तो नहीं था। उस गरीबनी के पास कुछ भुने आलू मात्र थे जिसे उसने खप्पर में डाल दिया। बुद्ध खाते हुए आगे बढ़े। राजा शुद्धोदन जल-भुन गये, क्रोध में काँपते हुए बोले, “यह सब क्या हो रहा है?” भगवान बुद्ध ने कहा, “महामहिम! यह अपनी वंश-परम्परा का पालन हो रहा है।” उन्होंने पूछा, “वंश से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? तुम्हारा वंश तो हम हैं।” बुद्ध ने कहा, “आप भूल रहे हैं। हमारा वंश परमहंसों का वंश है, राजन्! शरीर तो कहीं न कहीं जन्म लेता ही है। हमारा शुद्ध वंश वही है जहाँ अपना स्वरूप मुझे प्राप्त हुआ है। राजन्! हमारे वंश की यही परम्परा रही है कि अमीर-गरीब सबसे मिलो, सबसे भिक्षा लो। उनके सुख-दुःख को पहचानो। जो जिस स्तर पर हैं, उनको वहीं से विकास दो, उनका कल्याण करो। ऐसे महापुरुषों से ही सदैव कल्याण हुआ है।” राजा मस्तक पकड़ कर बैठ गये। उन्होंने सोचा था कि कुमार आयेंगे तो किसी प्रकार बहला-फुसलाकर उनका राज्याभिषेक कर देंगे किन्तु यह तो दलितों, अस्पृश्यों के यहाँ भोजन करने लगे।

सिद्धार्थ की पत्नी महारानी यशोधरा ने पुत्र राहुल से कहा, “यह तुम्हारे पिताश्री हैं, इनसे पैतृक सम्पत्ति माँगो।” राहुल ने बुद्ध को सादर नमन किया और पैतृक सम्पत्ति की याचना की। मन्दस्मित सहित बुद्ध ने पूछा, “वत्स! क्या तुम पैतृक सम्पत्ति लेने के लिए वस्तुतः तैयार हो?” राहुल की स्वीकारोक्ति पर उन्होंने कहा, “माँ से अनुमति ले लो।” पुत्र ने माँ से पूछा। वह बड़ी प्रसन्न हुई कि राज्य की सीमा, दुर्ग-व्यवस्था, सैन्य संचालन, कोष की सुरक्षा इत्यादि समझाने में कई महीने तक लग सकते हैं तब तक राजकुमार को परावर्त किया जा सकता है। उसने कहा, “कह दो, अवश्य लेंगे।” तीन बार राहुल की स्वीकारोक्ति पर भगवान बुद्ध ने कहा, “घर में कोई बुजुर्ग हो, उनसे भी पूछ लो।” राजा को लगा, पुत्र को देख कदाचित् यह सुधर रहे हों। उन्होंने भी संकेत दिया, ‘हाँ’ कर दो। अन्त में बुद्ध ने राहुल से पूछा, “कहीं तुम इनकार तो न कर दोगे?” राहुल ने कहा, “कभी नहीं!” तीन वचन राहुल से भी लेकर बुद्ध ने कहा, “आनन्द! इस बालक को भिक्षु बना लो। तुम्हारे पिता ने यही सम्पत्ति अर्जित की है। यह वह सम्पत्ति है जो स्थिर है, अक्षुण्ण है, तुम्हारा निजधन है जिसे प्राप्त कर लेने पर आत्मा सदा-सदा के लिए तृप्त हो जाती है।” राहुल ने अपने को प्रस्तुत कर दिया। अब तो माताजी दौड़ीं, पितामह बेहोश हो गये किन्तु राहुल ने कहा, “नहीं, तीन बार माताजी ने कहा, दादाजी ने कहा, मैंने भी वचन दिया है। जो भी हो मैं पीछे नहीं हटूँगा।” राहुल ने प्रव्रज्या ले ली। ये हैं वे सद्गुरु, धर्मगुरु! धर्म को जिन्होंने पहचाना है, उनमें पुत्र-मोह नहीं होता। एक ओर आचार्य द्रोण! एक गाय के लिए कितना उद्योग किया। अश्वत्थामा को मुकुट पहनाकर कितना आनन्दित हुए। दूसरी ओर हैं महामानव बुद्ध जिन्होंने परम्परा से प्राप्त मुकुट पुत्र के सिर से उतरवा कर उसे भिक्षु बना लिया। परमात्मा कोरी कल्पना होते तो बुद्ध अपने पुत्र को भिक्षु क्यों बनाते? प्राप्तिवाले महापुरुष किसी को भटका नहीं सकते। क्या वे अपने पुत्र को भटकायेंगे?

इसी ऊँचाई के महापुरुष हुए हैं गुरु नानक! गृहस्थ जीवन में उनके दो पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र श्रीचन्द जी त्यागी महापुरुष हुए। यह अविनाशी जी के शिष्य हुए। उन्हीं से उदासीन सम्प्रदाय का गठन हुआ। इसका आशय यह नहीं है कि वह किसी अलग मत के प्रवर्तक थे। ईश्वर तो एक है, साधन-पद्धति एक है। हाँ, उन महापुरुष के पीछे संगठित समाज उदासीन सम्प्रदाय कहलाया। दूसरे पुत्र लखमीचन्द सुविधाभोगी थे। इसके लिए वह चाहते थे कि गुरु जी की गद्दी उत्तराधिकार में मुझे मिल जाती। गुरु को उनकी भाव-भंगिमा से उनके मन्तव्य का पूर्वाभास हो गया।

एक दिन गुरु जी ने शिष्यों से जंगल में भ्रमण का प्रस्ताव रखा। कड़ाके की ठण्ड में सब भ्रमण कर ही रहे थे कि एक लकड़हारा सिर पर लकड़ियों का भारी भरकम गट्टर रखे घिसट रहा था। गुरु नानक ने कहा, “ओह! इसे तो बड़ा कष्ट है। इसका बोझा इसके घर पहुँचा कर आओ।” जिसकी ओर गुरु ने संकेत किया वह पीछे देखने लगा। लखमीचंद की ओर संकेत किया तो वह भी दूसरे शिष्यों के पीछे छिपने लगा। ज्योंही नानक की दृष्टि अंगददास से मिली, वाणी से कुछ कहा भी नहीं, केवल दृष्टि गई, वह तुरन्त समूह से आगे निकले, सादर मत्था टेका और लकड़हारे से उसका बोझ हटात् अपने सिर पर ले लिया क्योंकि वह सहज सेवा लेने को तैयार ही नहीं हो रहा था। अंगददास ने उसे घर पहुँचाया और लौटकर पुनः गुरु-चरणों में नमन किया।

सायंकाल गुरु नानक ने भक्तों की एक सभा बुलायी और बोले, “देखो, यह गद्दी भोग भोगने के लिए नहीं है। दूसरों के सिर का बोझ जो अपने सिर पर उठाने, ढोने और उसे उसके घर पहुँचाने की जो क्षमता रखता है, यह गद्दी उसके लिए है। आज से अंगददास जी इस गद्दी के उत्तराधिकारी और तुम सबके गुरु हुए। उन्होंने नारियल, बताशा रखकर अंगददास को चादर अर्पित किया और भ्रमण करने मक्का मदीना की ओर चले गये। गुरु ने पुत्र की उपेक्षा कर योग्य उत्तराधिकारी का ही चयन किया।

महापुरुष किसी का प्राण नहीं लेते, किसी का अँगूठा नहीं लेते, किसी की मर्यादा से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता। 'साधु ते होई न कारज हानी।' इनसे किसी का अनिष्ट हो ही नहीं सकता। गोस्वामी तुलसीदास जी की उक्ति है, 'संत हृदय नवनीत समाना। कहा कविन्ह पर कहइ न जाना॥ निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुःख द्रवहिं सन्त सुपुनीता॥' परहित संत का स्वभाव है। इतना ही नहीं, 'खल सन इव पर बन्धन करई। खाल कढ़ाइ विपति सहि मरई। भूर्ज तरु सम सन्त कृपाला। परहित नित सह बिपति बिसाला॥' सन्त तो भोजपत्र की तरह परहित के लिए अपनी चमड़ी उतरवाने में भी नहीं हिचकते। इन्हीं के पदचिन्हों का अनुसरण धर्माचरण है। ये सत्य को धारण करने वाले सद्गुरु, यही धर्मगुरु हैं।

एक बार घबड़ाये हुए देवराज इन्द्र महात्मा दधीचि के पास पहुँचे। कातर स्वर में उन्होंने कहा, "भगवन्! इन्द्र पद से तो मैं च्युत हो गया। अब तो जीवन भी कठिन हो गया है। वृत्रासुर नामक राक्षस किसी प्रकार मरता ही नहीं है। आप दया करें।" दधीचि ने पूछा, "आपका हित कैसे होगा देवेन्द्र?" इन्द्र ने सविनय कहा, "भगवन्! अपनी हड्डियाँ दे दें। इन तपःपूत अस्थियों की चोट वह राक्षस सहन नहीं कर पायेगा। उसे मारने का अन्य कोई भी उपाय मुझे नहीं दिखता।" दधीचि ने कहा, "यदि सबका हित इसी में है तो इन हड्डियों को ले लें।" उन्होंने अपना प्राण त्याग दिया। उन्हीं की अस्थियों से बने वज्र से वृत्रासुर मारा गया। इस प्रकार, आवश्यकता पड़ने पर महापुरुष शिष्यों के लिए अपने प्राण भी दे देते हैं।

भगवान् महावीर ने भी शिष्यों के कल्याण के लिए ही अपनी इहलीला का संवरण किया था। जीवनकाल में ही उनके लगभग तीस हजार विरक्त शिष्य थे। एक शिष्य (गोशाल) पार हो चला था किन्तु गुरु महाराज के चरणों में इतना लगाव था कि वह उनकी सेवा में लगा रहता था। भगवान् चाहते थे कि वह शान्त एकान्त में भजन करके अपनी दूरी तय कर ले। एक

दिन उन्होंने सोचा, जरा सी कमी है और यह भटक रहा है, समझाने से भी नहीं मानता। उसे बुलाकर उन्होंने कहा, “भिक्षा करने जाओ।” उधर वह भिक्षा करने गया इधर भगवान शिष्यों को कुछ निर्देश दे लेट गये। फिर वे उठे ही नहीं, शरीर त्याग दिया। शिष्य लौटा तो बहुत रोया, घण्टों रोता ही रहा। उसने पूछा, “गुरुदेव ने कुछ कहा था?” सतीर्थों ने बताया, “हाँ! गुरुदेव ने कहा कि तू पार हो चुका है। क्या बित्ता भर पानी में छप-छप कर रहा है? शान्त एकान्त में बैठकर थोड़ा चिन्तन कर, ध्यान लगा और एकदम उस पार हो जा।” अब मोह करने के लिए गुरु का पार्थिव पिण्ड भी तो नहीं रहा। भजन करना ही था। वह शान्त एकान्त में चिन्तन में लग गया। पन्द्रह-बीस दिनों में उसे कैवल्य पद की प्राप्ति हो गयी। उन महापुरुष ने सोचा, जरा-सी कमी के लिए इस गरीब को दो-एक जन्म और लेना पड़ सकता है इसलिए शिष्य की कल्याण-कामना से उन्होंने अपने शरीर का ही उत्सर्ग कर दिया।

भगवान महावीर के चौबीस जन्मों का उल्लेख मिलता है। आरम्भ में वह लकड़ी काटकर बेचने वाले साधारण लकड़हारे थे। कोल-भील जैसा ही उनका रहन-सहन था। एक सन्त पर उनकी दृष्टि पड़ी। वे उन्हें घण्टों देखते रहे, देखते ही रह गये, उन्हीं का चिन्तन करते रहे। इसी पुण्य से दूसरे जन्म में दो सन्तों को भिक्षा कराया। उसी पुण्य से तीसरे जन्म में विधिवत् उपदेश सुना और दीक्षित हुए। उस पुण्य से चौथे जन्म में वे सन्त हो गये। फिर तो वह ब्राह्मण भी हुए। एक बार वह नरक भी गये, एक बार शेर हुए, कभी उत्तम कोटि के दण्डी हुए और अन्तिम चौबीसवें जन्म में वे तीर्थंकर-स्वयं पावन और दूसरों को भी पावन करने की क्षमता वाले हो गये, अरिहंत कहलाये- जो शत्रुओं से मुक्त हों और दूसरों के शत्रुओं का अन्त कर सकते हों। वे महापुरुष के रूप में परिवर्तित हो गये। उन्होंने अपना अलग से कोई धर्म चलाया हो, ऐसी भी कोई बात नहीं है। गीता का ही धर्म महावीर का

भी है—आत्मशुद्धि करणात् धर्म! आत्मा की शुद्धि करना ही धर्म है। एक राजा ने पूछा, “कैसे शुद्ध होगी यह आत्मा?” उन्होंने बताया, “दर्शन ज्ञान चरित्राणि” तीर्थंकर महापुरुषों का दर्शन, उनके द्वारा ईश्वर की जानकारी का ज्ञान, उसके अनुरूप तप तथा आचरण द्वारा चरित्र-निर्माण – इतना ही धर्म का सारांश है। प्राप्ति वाले ऐसे सभी महापुरुष तीर्थस्वरूप हैं।

जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥

ते सब भये परम पद जोगू। भरत दरस मेटा भव रोगू॥

(रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा 216/1-2)

जड़-चेतन जिन्ह किसी ने प्रभु को देख लिया, परम पद का अधिकारी हो गया। उसने नहीं देखा, प्रभु ने ही जिन पर दृष्टि निक्षेप कर दिया, वह भी परम पद का अधिकारी हो गया। राम के दर्शन से वे परम पद के अधिकारी हो गये। कदाचित् भरत का दर्शन कर लिया तो भवरोग ही मिट गया। पहले अनुभवों की जागृति में विज्ञानरूपी राम! इस जागृति के साथ परमपद का सूत्रपात् हो गया। भजन जागृत हो गया और यदि साधक भावपूरित हृदय से लग गया, नन्दीग्राम में, तो भवरोग ही मिट जाता है। हृदय ही गुफा है, ख्याल ही खड़ाऊँ है। सुरत लगाकर चिन्तन में लगना चाहिए। अच्छा साधक वह है जो इसी जन्म में इसी शरीर से, इन्हीं आँखों से उन प्रभु को देख ले। यही जागृति प्रदान करने वाले सद्गुरु हैं। यही हैं वास्तविक धर्माचार्य। इन सत्पुरुषों के पदचिन्हों का अनुसरण धर्माचरण है। सामाजिक व्यवस्थाकारों द्वारा प्रवर्तित व्यवस्था धर्म नहीं है, जीविका है, सुखद जीवन जीने का तरीका मात्र है।

ऐसे सद्गुरु किसी का अँगूठा नहीं लेते। आदिगुरु थे भगवान शिव। योग अनादि है। मानवमात्र के लिए उसे सर्वसुलभ बनाया भगवान शिव ने। उनका एक नाम था भूतनाथ। भूत अर्थात् प्राणी! वे प्राणिमात्र की शरणस्थली थे। वे आशुतोष, अवदरदानी थे। उनका एक असुर भक्त तपस्या कर रहा

था। भोलेनाथ ने कहा, “वत्स! वर माँगो।” उसने कहा, “जिसके ऊपर मैं हाथ घुमा दूँ, वह मर जाय।” शंकर जी ने अपने हाथ का कड़ा निकाल कर उसे दे दिया। नारद दूर से यह दृश्य देख रहे थे। उन्होंने सोचा, इस शक्ति का दुरुपयोग कर समाज को यह बहुत संकट में डाल सकता है। उसे नष्ट करने की योजना बनाकर उसके पास पहुँचे और कहा, “असुरराज! आप जैसी तपस्या और ऐसा वरदान संसार में कोई नहीं पा सका। आप तो अजेय हैं। अब आपका इरादा क्या है?” उसने कहा, “पहले इन्द्र को हटाऊँगा, उसके सिंहासन पर बैटूँगा, अपने अनुकूल किसी को महारानी बनाऊँगा जो सबसे सुन्दर हो।” नारद जी ने सुझाव दिया, “त्रैलोक्य सुन्दरी वह क्या बैठी है शंकरजी के पार्श्व में!” असुर ने कहा, “इन्होंने ही तो वरदान दिया था। इतनी कृतघ्नता?” नारद जी ने कहा, “शक्ति तो कड़े में थी। इनमें अब क्या है? यही समाप्त हो जायँगे तो कौन कहेगा कि तुम्हें शक्तिमान बनाने वाला कौन है? वरदान की परीक्षा भी हो जायगी कि सही दिया है या तुम्हें केवल मूर्ख बनाया गया है?” अब आगे-आगे भोलेनाथ और पीछा करता हुआ भस्मासुर! भगवान ने सोचा, “भोलेनाथ भी पता नहीं क्या-क्या वरदान दे देते हैं। उन्होंने मोहिनी रूप धारण किया। मोहिनी पर दृष्टि पड़ते ही भस्मासुर खड़ा हो गया। नारद जी ने कहा था वह त्रैलोक्य सुन्दरी! लेकिन यह उससे भी इक्कीस प्रतीत होती है। उसने पूछा, “देवि! तुम यहाँ क्यों विचरण कर रही हो?” मोहिनी ने कहा, “मैं वर की तलाश में हूँ। स्वयंवर करूँगी।” भस्मासुर ने पूछा, “स्वयंवर का क्या मापदण्ड आपने निर्धारित किया है?” उसने कहा, “मेरी तरह नृत्य करके जो मुझे पराजित कर दे मैं उसी का चयन करूँगी।” मोहिनी के साथ नृत्य करते-करते वह कड़े का प्रभाव भूल गया। मोहिनी ने अपने ऊपर हाथ घुमाया। उसने भी ऐसा किया और समाप्त हो गया। ऐसे महापुरुष थे भगवान शंकर! भक्त ने कुछ माँग लिया तो दे दिया; परिणाम में उनका जीवन ही क्यों न संकटापन्न हो जाय।

इसी ऋषि-परम्परा का निर्वाह भगवान राम ने किया। वनवास के प्रथम चरण में ही केवट मिला। समाज के लोगों ने उसे अधम माना था किन्तु राम ने उसे गले लगाया, भरत के समानान्तर स्थिति प्रदान की। राम आगे बढ़े तो कोल-भील, वानर-भालू 'गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जेहि जाचत जोगी॥' असुर, आदिवासी, जनजाति के लोगों को अपनाया, उनके साथ भोजन, समानान्तर रहन-सहन का सम्मान दिया। सीता की शोष में राम शबरी आश्रम में पधारे। शबरी ने अपना परिचय देते हुए कहा, "अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमन्द अघारी॥" एक तो मैं अधम कोल-किरात, उसमें भी नारी; और मतिमन्द।" 'कह रघुपति सुनु भामिनी बाता। मानऊँ एक भगति कर नाता।' भगवान ने कहा, "शबरी! तुम कहाँ जन्मी हो, पूर्वज क्या करते थे?—हमें इससे मतलब नहीं है। मैं तो केवल भक्ति का रिश्ता ही जानता हूँ। भक्ति के नौ अंग हैं— 'प्रथम भगति सन्तन्ह कर संग्गा। दूसरि रति मम कथा प्रसंग्गा॥' इस प्रकार इस प्रकार नवधा भक्ति बताकर कहा कि इन नौ में से एक भी जिसके पास है, वह नारी हो, पुरुष हो, चराचर में कोई हो, मुझे प्राणों के समान प्रिय होता है। 'सकल प्रकार भगति दृढ तोरे।'—सभी विधियों से भक्ति तुम्हारे पास सुदृढ़ है।"

शबरी आह्लादित हो उठी। डलिया में बेर के फल लाई। भगवान ने उसे स्वीकार किया और कहा, "शबरी! तुम मेरे धाम को जाओ, मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाओ।" कहते हैं शबरी ने जूठे बेर खिलाये। स्वरूप की स्थितिवाले के लिए जो भगवान का मुख है, वह उसका मुख है। वहाँ जूठ और स्वच्छ का भेद-भाव समाप्त हो जाता है। शबरी के अन्य गुरुभाई जो उससे द्वेष रखते थे, नतमस्तक हुए। वे देखते ही रह गये, शबरी पा गई। भगवान केवल श्रद्धा के भूखे हैं। ये महापुरुष केवल भक्ति का रिश्ता ही जानते हैं।

भक्त शिरोमणि हनुमान ही कहाँ के कुलीन थे! **‘कहउ कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबही बिधि हीना॥’** हनुमान वानर जातीय पुरुष थे। हैहय, ऋक्ष, वानर, मण्डूक इत्यादि किसी समय की प्रचलित जातियाँ थीं। **‘अस मैं अधम सखा सुनु, मोहूँ पर रघुबीर। कीन्ही कृपा सुमिरि गुन, भरे बिलोचन नीर॥’** हे विभीषण! मैं इतना अधम हूँ कि प्रातः कोई मेरा नाम ले ले, उस दिन भोजन नहीं मिलता, पर मुझ जैसे अधम पर भी प्रभु ने कृपा की है। आप तो राजकुल के हैं। आप प्रभु की शरण में चलें। उन्होंने विभीषण को भी प्रभु की शरणागति के लिए प्रेरित किया। क्वारी कन्या के पुत्र थे हनुमान! बड़े हुए तो कई दावेदार! ‘शंकर सुवन, केशरी नन्दन, पवन तनय...’ कोई कबीर की ही तरह पड़ा क्यों न मिल जाय। मानव तन दुर्लभ तन है, अधम नहीं। गीता के अनुसार अधम वह है जो धर्म के नाम पर मनगढ़न्त क्रियाएँ करता है, सृष्टि में अन्य कोई भी अधम नहीं है।

महापुरुष किसी का अँगूठा नहीं लेते। आवश्यकता पड़ गयी तो भक्त की प्राणरक्षा के लिए वे अपना प्राण भी संकट में डाल देते हैं। रावण ने विभीषण के ऊपर जब मरणान्तक शक्ति का प्रहार किया तो **‘तुरन्त बिभीषण पाछे मेला। सन्मुख राम सहेउ सोई सेला॥’** राम ने विभीषण को पीछे हटाकर शक्ति-प्रहार स्वयं झेल लिया। ये प्राण नहीं लेते, जो सद्गुरु हैं अँगूठा नहीं लेते। **‘सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत पसारा’**, **‘ब्यापकु एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनन्द रासी।’** परमात्मा ही सत्य है। जो उसके रहस्य के ज्ञाता और संचार प्रदान करने वाले हैं, वही सद् गुरु हैं। भक्त को आवश्यकता पड़ गयी तो वे अपने प्राण भी दे देते हैं, उनका बोझ अपने सिर ले लेते हैं और जब उन्हें अपनाते हैं तो अपनी भगवत्ता ही दे देते हैं।

‘दुर्योधन घर मेवा त्यागे साग विदुर घर खाये।’ भगवान मेवा खिलाने से खुश नहीं होते, श्रद्धा और भाव से प्रसन्न होते हैं। विदुराणि ने

कृष्ण को देखा, भाव विह्वल हो उठीं। केला नीचे गिराने और उसका छिलका प्रभु को खिलाने लगीं। विदुर ने ध्यान आकर्षित किया तो उन्होंने भूल सुधार कर केले का गूदा खिलाने लगीं। भगवान बोले, “काका, इन छिलकों में जो स्वाद था, शबरी के बेर में थे, मैया यशोदा के मक्खन में था। उतना स्वादिष्ट यह नहीं है।” अस्तु भगवान की भक्ति के लिए बहुत टीप-टाप की जरूरत नहीं है। गीता में भगवान् कहते हैं, ‘**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।**’ पत्र-पुष्प-जल-फल जो भी श्रद्धा से अर्पण करता है उसे मैं सेवन करता हूँ, उसका मैं परम कल्याण करने वाला होता हूँ। उसके लिए मेवा-मिष्ठान्न के प्रदर्शनी की आवश्यकता नहीं, मात्र श्रद्धा अपेक्षित है— ‘**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**’ (गीता)

भगवान श्रीकृष्ण के अन्तरंग भक्तों में नन्दा नाई दुर्योधन की सेवा में नियुक्त था। आधुनिक ब्यूटीपार्लरों की तरह उन दिनों युवराज को सुसज्जित करके राजसभा में ले जाना नन्दी की सेवा थी। एक दिन प्रातः वह युवराज की सेवा में जा रहा था। मार्ग में पाँच-सात सन्त दिखाई पड़ गये। दृष्टि पड़ते ही नन्दा उनकी सेवा में लिपट गया। वह भूल गया कि मैं ड्यूटी पर जा रहा हूँ। उन्हें नहलाते-धुलाते, भोजन कराते तीन बज गये। जब सन्त विदा हो गये, उसे ड्यूटी की याद आयी। वह सोचने लगा, “दुर्योधन बहुत दुष्ट है। मृत्युदण्ड से नीचे उसने कभी किसी को कुछ दिया ही नहीं। आज मृत्यु निश्चित है। चलो, ठीक ही होगा। अधम शरीर कभी न कभी नष्ट होता ही। यह सन्तों की सेवा में काम आया। प्रभु के किसी काम तो आया।”

इन्हीं विचारों में खोया नन्दा राजभवन तक आ गया। प्रवेश द्वार पर ही दुर्योधन मिल गया। उसने कहा, “नन्दा, कैसे लौट आये? अभी तो गये हो।” नन्दा ने सोचा कि यह व्यंग्य कर रहा है। तब तक कुछ मंत्रिगण निकले, “नन्दा! कुछ भूल गये क्या? आज तुम्हारे चेहरे में वह मोहिनी थी कि हम लोग उसे विस्मृत नहीं कर पा रहे हैं।” दुर्योधन ने भी समर्थन किया,

“नन्दा, आज तुम्हारे मृदुल करतलों का स्पर्श मैं आजीवन भूल नहीं सकूँगा। आज तो तुम्हारे हाथों में जादू था। आज की सेवा के उपलक्ष्य में मुझसे कोई वर माँग लो।”

अब नन्दा ने समझ लिया, “ओह! मेरे क्षुद्र प्राणों की रक्षा के लिए प्रभु को मेरा रूप धारण कर इस अधम के चरण दबाने पड़े।” विह्वल होकर उसने कहा, “युवराज! वर ही देना हो तो मुँहमाँगा दीजिए।” दुर्योधन ने कहा, “तुम शंका न करो। मैंने कर्ण को राजा बनाया है, तुम्हें भी बना दूँ?” नन्दा ने निवेदन किया कि मेरा इस्तीफा स्वीकार करने की अनुकम्पा करें। अब मैं केवल प्रभु की सेवा करना चाहता हूँ।

‘आप बने हरि नाई नन्दा’ नन्दा ने कभी पुकारा नहीं कि भगवन्! मेरे प्राणों की रक्षा करें, मैं संकट में हूँ। कुछ नहीं माँगा। किन्तु भगवान तो जानते हैं कि कौन भक्त कब संकट में है। उन्हें समझाने की कौन आवश्यकता! मूर्ख और अज्ञानी को समझाया जाता है। वह तो सब कुछ पहले से ही जानते हैं। द्रौपदी चिल्ला पड़ी, ‘लाज बचाओ।’ अर्जुन विकल हो गया, ‘आप ऐसा सारथी और प्रण पूरा नहीं हुआ जयद्रथ को मारने का! सिद्ध है कि भाग्य ही बलवान होता है, भगवान उसके आगे कुछ नहीं हैं।’ नन्दा भी उसी परिस्थिति से गुजर रहा था किन्तु उसने कहा, ‘**चींटी के पग नुपूर बाजै वह भी साहिब सुनता है।**’ आप संकल्प बाद में करते हैं, भगवान पहले जानते हैं। इसीलिए ये महापुरुष अपने किसी अनुरागी शिष्य के प्राण नहीं लेते, अँगूठा नहीं लेते, मर्यादा नहीं लेते बल्कि भक्त पर संकट आया तो तुरन्त वह संकट स्वयं झेल लेते हैं। वे तो यहाँ तक निर्वाह करते हैं कि ‘बेंचे तो बिक जाऊँ’—भक्त यदि बिक्री कर दे तो भगवान कहते हैं कि मैं बिक जाऊँ।

अतः ऐसे प्रभु के लिए पूर्ण श्रद्धा और समर्पण के साथ जो परमात्मा को पुकारता हो, ऐसे दो-ढाई अक्षर के किसी नाम राम या ओम् का आप सब जप करें। उठते-बैठते, चलते-फिरते, गृहकार्य करते, पढ़ते-लिखते हर समय

नाम याद आये। सुबह-शाम, आधा घण्टा-बीस मिनट नाम-जप में समय अवश्य दें। भगवान जानते हैं कि जीव मुझे पुकार रहा है। इसके सामने क्या अड़चन है? वे दूर करेंगे। वे यह भी जानते हैं कि इसका कल्याण किसमें है? वैसी ही वह व्यवस्था देंगे।

हमें केवल श्रद्धा और समर्पण के साथ एक परमात्मा का स्मरण करना चाहिए। भगवान एक से सवा कभी हुआ नहीं, दूसरा हो ही नहीं सकता—**‘ब्यापक ब्रह्म एक अविनाशी। सत चेतन घन आनन्द राशी॥’** वह भगवान् रहते कहाँ हैं? **‘अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥’** वह भगवान हृदय में रहते हैं। वे प्राप्त कैसे होंगे? प्रकट कैसे हो? तो **‘नाम निरूपण नाम यत्न ते। सोई प्रकटत जिमि मोल रतन ते॥’** पहले नाम का निरूपण करो कि नाम है किस प्रकार? जब समझ काम कर जाय तो यत्न करो। वे अवश्य प्रकट हो जायेंगे।

सामाजिक आचार्य अर्थात् शिक्षकों को धर्मगुरु, सद्गुरु से जोड़ना धार्मिक भ्रान्ति है। धर्म सद्गुरुओं की उपज है जो सत्य को धारण करके उसमें समाहित हैं। वे सबके हैं। वे किसी का अँगूठा नहीं लेते बल्कि आवश्यकता पड़ने पर अपने ही प्राण दे देते हैं। आपका धर्मशास्त्र गीता है जिसका भाष्य देखे—**‘यथार्थ गीता’**।

॥ बोलिये सद्गुरुदेव भगवान की जय ॥

शास्त्र

पहले सभी शास्त्र मौखिक थे, शिष्य परम्परा में कण्ठस्थ कराये जाते थे, पुस्तक के रूप में नहीं थे। आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व वेदव्यास ने उसे लिपिबद्ध किया। चार वेद, महाभारत, भागवत, गीता इत्यादि महत्वपूर्ण ग्रन्थों का संकलन उन्हीं की कृति है। भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान को उन्होंने ही लिखा किन्तु उन्हें शास्त्र नहीं कहा। उन्होंने वेद को शास्त्र की संज्ञा नहीं दी किन्तु गीता की अनुशंसा में उन्होंने कहा— **‘गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥’**— गीता भली प्रकार मनन करके हृदय में धारण करने योग्य है जो भगवान् पद्मनाभ के श्रीमुख से निःसृत वाणी है। तब अन्य शास्त्रों के विषय में सोचने या उनके संग्रह की क्या आवश्यकता है? विश्व में अन्यत्र कहीं कुछ पाया जाता है तो उसने गीता से प्राप्त किया है। ‘एक ईश्वर की संतान’ का विचार गीता से ही लिया गया है। इसे भली प्रकार जानने के लिए देखें—**‘यथार्थ गीता’**।

अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु तथा मुमुक्षुजन अर्थ-धर्म-स्वर्गोपम सुख तथा परम श्रेय की प्राप्ति के लिए देखें—**‘यथार्थ गीता’**।

निवेदकः—

भक्तमण्डल

श्री परमहंस आश्रम

शक्तेषगढ़, चुनार, मीरजापुर (३०प्र०)

© सर्वाधिकार - लेखक

(इस पुस्तक का कोई भी अंश-प्रकाशन, रिकार्डिंग, प्रतिलिपि प्रकाशन
तथा संशोधन बिना लेखक की अनुमति के वर्जित है ।)

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

न्यू अपोलो एस्टेट, गाला नं 5, मोगरा लेन (रेलवे सबवे के पास)

अंधेरी (पूर्व), मुम्बई - 400069 फोन - (022) 28255300

ई-मेल - contact@yatharthgeeta.com वेबसाइट - www.yatharthgeeta.com